महिषासुर विमर्श पर बहस

मिथकीय आख्यान और इतिहासबोध

अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र

आर.जी. कॉलिंगवुड (1946) ने उचित ही कहा है कि हम शायद एक ऐसे युग की दहलीज़ पर खड़े हैं, जिसमें दुनिया के लिए इतिहास उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा जितना कि 1600 और 1900 के बीच प्राकृतिक विज्ञान था। वुड के कथन की सार्थकता को पूरे शीत युद्ध के काल में कम्युनिज़म के भूत (इस शब्द का प्रयोग मार्क्स एवं एंगेल्स ने *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* की प्रथम पंक्ति में किया है) ने साकार कर दिखाया। किंतु 1990 के पश्चात् जब कम्युनिज़म का भूत स्वयं भूत बन गया तब वुड के कथन की सार्थकता और प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी। विगत दशकों में इतिहास की क़ब्र ख़ोदने की जो प्रवृत्ति बढ़ी है वह मार्क्सवादी-सादृश्यता के बावजूद उससे दो अर्थों में भिन्न है। प्रथम, मार्क्सवादी इतिहास विश्लेषण एक युग के आत्मविनाश के पश्चात् नवारम्भ हेतु सामूहिक पहचान, उत्पादन प्रणाली और तदनुरूप उत्पादन संबंध की प्रस्थापना करता है। जबकि आज के मार्क्सवादी-सादृश्यता वाले उपागम इतिहास की क़ब्र ख़ोद कर और दबी वस्तुओं को बिखेर कर अपने विश्लेषण को कहीं से भी प्रारम्भ कर लेते हैं और कहीं पर भी स्थगित कर देते हैं। आज के ऐसे इतिहास विश्लेषकों को फ़ूकोवादी

(कहीं से भी आरम्भ करने के कारण डिस्कर्सिव फ़ॉर्मेशन का भ्रम पाल लेना) या देरिदावादी (कहीं पर भी स्थगित कर लेने के कारण डेफ़र का भ्रम पाल लेना) भी नहीं कहा जा सकता है। द्वितीय, मार्क्सवादी इतिहास विश्लेषण की अनेक कमियों के बावजूद इसकी एक विशिष्टता है कि यह पर्याप्त सीमा तक संघर्षरत घटकों के सम्मिलित योगदान को स्वीकार करता है। जबकि, आज के मार्क्सवादी-सादृश्यता वाले इतिहास-लेखन में संकीर्णतावादी प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति के कारण आज के मार्क्सवादी सादृश्यता वाले इतिहास-लेखन एकत्ववादी दिखते हैं, किंतु इनका एकत्ववाद प्रत्येक अवस्था में जिस इतिहास-दर्शन में चरितार्थ होता है, वह न तो मार्क्स की तरह आर्थिक निर्धारणवाद होता है न ही इनका एकत्ववाद प्लेटो के 'आइडिया', हीगेल के 'गाइस्थ', शंकर के 'ब्रह्म', बुद्ध के तथागत गर्भ या अरविंद के सच्चिदानंद की तरह विराट होता है। बल्कि, इनका वह एकत्ववाद कभी जाति, कभी जनजाति, कभी धर्म, कभी अर्थ, कभी शोषण और अन्याय, तो कभी कुछ और भी होता है। इस दृष्टि से सनसनी उत्पन्न करने वाले कहानी, नाटक, प्रहसन आदि की तो रचना की जा सकती है, किंतु इतिहास के किसी समानांतर विमर्श को नहीं खड़ा किया जा सकता है।

इतिहास की क़ब्र खोद कर एक समानांतर विमर्श खड़ा करना एक दुरूह कार्य है। इसके लिए कम से कम तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है। प्रथम, पूर्व-पक्ष से असहमति के लिए ठोस ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता की अपेक्षा। इस अपेक्षा को पूर्ण किये बिना जब इतिहास का विमर्श तैयार किया जाता है तब विमर्शकर्ता का सम्पूर्ण प्रयास बंदर की भाँति कभी इस शाखा तो कभी उस शाखा पर उछल-कूद (एक ज्ञानमीमांसा को छोड़कर दूसरे को पकड़ना फिर तीसरे को और कहीं भी स्थिर न होना) करने जैसा रह जाता है। द्वितीय, पर्याप्त भौतिक और साहित्यिक साक्ष्य होना। साक्ष्यों का अंतर-सांस्कृतिक, अंतरा-सांस्कृतिक एवं समकालिक तथा अवांतर-कालिक तुलनात्मक पर्यवेक्षण इतिहास-विमर्श को सुदृढ़ नींव प्रदान करता है। तृतीय, इतिहास के कथ्य एवं तथ्य को उसके परिप्रेक्ष्य में देखने की एवं अन्वेषण करने की क्षमता की ज़रूरत। यह इसलिए ज़रूरी है कि कथ्य एवं तथ्य को वर्तमान के जाति, लिंग, स्थान एवं परिप्रेक्ष्य के इतिहासबोध से जोड़ कर देखने की दुष्प्रवृत्ति का परिहार किया जा सके।

प्राचीन सनातन परम्परा का इतिहास-लेखन

इस तरह ग्रीक काल से आधुनिक काल तक इतिहास के अनेक विमर्श उत्पन्न हुए और इतिहास में मिल गये। परंतु, उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास के अंत को ही विमर्श का विषय बना डाला। इतिहास के अंत की घोषणा की दृष्टि इतिहास को अविच्छिन्नता में देखने की प्रवृत्ति के विरोध में हुई है। इतिहास के इस उत्तर-आधुनिक विमर्श के दो मुख्य स्तम्भ हैं—फ़ूको एवं देरिदा। दोनों ने ही इतिहास को इतिहासकारों के चंगुल से निकालने के तर्कों एवं पद्धतियों का विकास किया है। इनका मानना है कि इतिहास को जब हम इतिहासकारों के नज़रिये से देखते हैं तब हम इतिहास को जानने के बजाय इतिहासकार के दिमाग़ से इतिहास को जानने का प्रयत्न करते हैं। जबकि भूतकाल को जानने के लिए इतिहासकार के दिमाग़ में जाने की बजाय उन लोगों के दिमाग़ में जाने की ज़रूरत होती है जिनके इतिहास को हमें जानना है। प्रस्थापना की दृष्टि से फ़ूको एवं देरिदा का तर्क पूर्णत: न्यायसंगत एवं विवेकपूर्ण है। किंतु, इस प्रस्थापना के दावों को साकार करने के लिए वे जिस पुरातात्त्विक पद्धतिशास्त्र, विखण्डन, आदि का सहारा लेते हैं; और शाश्वत सत्य तथा अविच्छिन्न ऐतिहासिक विकास को ख़ारिज करते हुए 'तरल सत्य' को अपनाने की सलाह देते हैं— उसमें तीन महत्त्वपूर्ण दोष दिखाए जा सकते हैं। प्रथम, यह मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान को एक ही धरातल पर खड़ा कर देता है। द्वितीय, यह सत्य एवं मत को एक ही पृष्ठभूमि में धकेल देता है। तृतीय, इस दृष्टि से इतिहास का होना या न होना निरर्थक हो जाता है और जो शेष रह जाता है वह है

वर्तमान की शक्ति-संदर्भ आधारित गतिकी। वर्तमान की इसी शक्ति-संदर्भ आधारित गतिकी से आज नारीवादी-इतिहास के विमर्श एवं उपाश्रित-इतिहास के विमर्श का जन्म हआ है। किंतु, इन विमर्शों द्वारा भी जब सार्वभौम स्थापनाओं का शिलान्यास किया जाता है तब इतिहास की क़ब्र से मात्र विद्वेष, संघर्ष, शोषण, हिंसा एवं अन्याय के पुरावशेष ही निकल पाते हैं— और प्रेम, सहयोग, शांति, मैत्री, अहिंसा जैसे पुरावशेष दफ़न हो कर रह जाते हैं।

उपर्युक्त समीक्षात्मक अन्वेषण के पश्चात् इस निष्पत्ति तक पहुँचा जा सकता है कि विश्व के किसी भी इतिहासकार ने किसी भी इतिहास के साथ न्याय नहीं किया है। लेकिन इसके बावजूद भारत के इतिहास-लेखन के संदर्भ में यह कहना जारी रहता है कि भारतीय इतिहास की अधिकांश प्राचीन कृतियों में इतिहासबोध का अभाव है। (विसेंट स्मिथ :1990 : III) क्या इस तरह के आरोप को पश्चिम के जातीय अहंकार या औपनिवेशिक मान्यता की तरह नहीं देखा जाना चाहिए? वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य इतिहास-लेखन के समस्त दोष भारतीय इतिहास-लेखन में भी है और तद्नुरूप पाश्चात्य इतिहास-लेखन के अनेक गुण भी भारतीय इतिहास-लेखन में है। भारत की सनातन परम्परा ने समानांतर इतिहासबोध रखने वाले समूहों (सम्प्रदायों) को भी यह स्वतंत्रता दी है कि वे चाहें तो प्रस्थान त्रयी (उपनिषद्, *ब्रह्मसूत्र* और *गीता*) पर भाष्य लिख कर नवीन सम्प्रदाय एवं नूतन इतिहासबोध की दुनिया बसा लें। भारत के इतिहास को भारत की ज़मीन पर समझने के लिए संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी मान्यता कारगर हो सकती है, किंतु तभी जब उन्हें भारत के इतिहासबोध से विश्लेषित किया जाए। इस दृष्टि से वी.एस. आप्टे ने महाभारत में उद्धृत इतिहास की एक मानक परिभाषा प्रस्तुत की है—

धमार्थकाममोक्षानाम् उपदेशसमंवितं।
पूर्ववृत्तम् कथायुक्तम् इतिहासं प्रचक्षते।।

वस्तुतः भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास-लेखन में व्यक्ति, जाति, वंश, स्थान और समय महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। विभिन्न घटनाओं के मध्य कार्य-कारण संबंध की स्थापना भी इस इतिहास-लेखन का उद्देश्य नहीं है बल्कि शांति, सुरक्षा एवं व्यवस्था की स्थापना उसका मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युगों के अनुभव ने साहचर्य एवं तादात्म्य बोधकता के कुछ सूत्र प्रस्तावित किये और उनसे वर्णाश्रम धर्म एवं पुरुषार्थ व्यवस्था की नींव पड़ी। अतः वर्णाश्रमधर्म एवं पुरुषार्थ की महत्ता को स्थापित करना भारत में इतिहास-लेखन का उद्देश्य रहा है। वर्णाश्रमधर्म एवं पुरुषार्थ के रक्षार्थ संलग्न व्यक्ति, जाति, वंश और उनका स्थान एवं समय प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में बड़े फ़लक पर उजागर हुए हैं। जीवन के सारतत्त्व की खोज के प्रयासों ने प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में जगत् के नानात्व एवं आम लोगों के जीवन की आधि-व्याधि की उपेक्षा की है। प्राचीन सनातन परम्परा में इतिहास-लेखन की यह जो प्रवृत्ति है उसमें सात आश्चर्यजनक विरोधाभास हैं। प्रथम ज्योतिषीय गणनाओं के समय सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाई के प्रति जहाँ सनातन मतावलम्बी अत्यंत सचेत हैं, वहीं ऐतिहासिक विवरणों में काल के फ़लक को वे युग और मन्वंतर जैसा विस्तार दे देते हैं जिसमें अनेक पीढ़ी तो क्या अनेक सभ्यताओं का उत्थान एवं पतन हो जाता है। द्वितीय, भीषण युद्धों का चित्रण और उन्हीं युद्धों के बीच तत्त्वचिंतन। इसी तरह निस्पृहता एवं त्याग की गाथाओं के मध्य वैभव, विलास एवं ऐश्वर्य की कहानियाँ ऐसा आभास देती हैं जैसे कि इतिहासकार दो लोकों या अलग-अलग युगों का वृत्तांत बता रहा है। तृतीय, लोकेषणा की प्रबल इच्छा के मध्य आत्मगोपन की पद्धति। चतुर्थ, देवत्व से बराबरी चाहने वाले मानवता (देवं भूत्व देवं यजेत) के उच्चादर्श के मध्य अधम् जातीय विद्वेष एवं दुराग्रह। पंचम, जड़ात्मवाद से पूर्ण इतिवृत्तों के मध्य उच्च दार्शनिक तत्त्ववाद का वृत्तांत। षष्ठ, बहुदेववाद की सम्पूर्ण श्रृंखलाओं की उपस्थिति के साथ एकत्ववाद के प्रति निष्ठा। सप्तम्, प्रचण्ड नियतिवाद के समानांतर दृढ़ कर्मवाद।

प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन अपने ऐसे ही विरोधाभासों के कारण आज भी इतिहास-लेखन

के सभी सम्प्रदायों के लिए एक स्वर्ग बना हुआ है। एक ऐसा स्वर्ग जिसमें किसी भी तरह के निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए मात्र कल्पना के घोड़े को दौड़ाने की ज़रूरत है। किंतु, इन विरोधाभासों की तह तक जाने पर जहाँ विरोधाभासों के कारण स्पष्ट होने लगते हैं और जहाँ इतिहास को उन लोगों के नज़रिये से देखा जाना सम्भव होता है जो स्वयं इतिहास के पात्र हैं, कल्पना के घोड़े दौड़ाने से उत्पन्न होने वाली सनसनी समाप्त हो जाती है। जब इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय इतिहास का अन्वेषण करना हो तब अन्वेषणकर्ता से पाँच तथ्यों के प्रति सचेत रहने की अपेक्षा होती है। प्रथम, प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में ऐसी अकादमिक ईमानदारी है जिसमें संस्कृति और संस्कृतियों के साथ-साथ विकृतियों को भी स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं संस्कृतियों के उत्थानार्थ एवं विकृतियों के शमनार्थ लक्ष्यों को भी उद्घाटित किया गया है। अत: मात्र विकृतियों को लक्ष्य बना कर प्राचीन भारतीय इतिहास का अन्वेषण, 'मैकियावेलियन वे ऑफ़ हिस्ट्री-एनालिसिस' से अधिक नहीं हो सकता है। द्वितीय, पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता का परिप्रेक्ष्य, मानव विहीन और अणुवादी समाज की अवधारणा के आधार पर जिस राजनीतिक-आर्थिकी का उदय हुआ है उसकी विश्व-दृष्टि को प्राचीन भारतीय इतिहास में खोजना व्यर्थ है। प्रत्येक प्राचीन समाजों की भाँति प्राचीन भारतीय समाज एक सावयवी समाज है जिसमें अधिकांश अंतर-वैयक्तिक एवं अंतर-सामाजिक संबंध प्रत्यक्ष संबंध जैसे होते हैं। ऐसे समाजों में संबंधों के आदर्श एवं संबंधों के व्यवहार-पक्ष के मध्य अंतर-आधुनिक समाजों की अपेक्षा अत्यंत कम होते हैं। तृतीय, प्राचीन भारतीय समाज में और तदनुरूप प्राचीन भारतीय साहित्य में मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेंथम आदि की भाँति मनुष्य को परिभाषित करने के लिए एक ही श्रेणी नहीं हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही सत, रज और तम गुण के आधार पर वर्गीकृत किये गये हैं। उक्त वर्गीकरण का भी उत्तम, मध्यम एवं निम्न श्रेणी में आंतरिक वर्गीकरण किया गया है। चतुर्थ, प्राचीन भारतीय इतिहास के पात्र यूथ से जन और जन से जाति तथा जाति से राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में हैं। कोई भी यूथ रातों-रात पूरी तरह से जन में परिवर्तित नहीं होता और न ही कोई जन रातों-रात जाति या राष्ट्र में परिवर्तित होती है। इस परिवर्तन को अंतर एवं अंतरा-सामुदायिक सहयोग और चुनौती दोनों मिलते हैं। इस सम्पूर्ण पटकथा को प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में पिरोया गया है। पंचम, आज की सभी सभ्य कही जाने वाली जातियाँ सुदूर अतीत में वन्य जातियाँ ही थीं। उन्होंने सम्मिलन, प्रतिरोध एवं परिमार्जन की प्रक्रिया में अपना विकास किया है।

भारतीय इतिहास-दृष्टि के उपर्युक्त गुणसूत्रों की उपेक्षा करते हुए जब कोई अध्येता या अध्येताओं का वर्ग प्राचीन भारतीय इतिहास से उदाहरण लेकर लेखन-कार्य करता है तो उसके लेखन से तार्किकता एवं प्रामाणिकता दोनों स्वाभाविक रूप से ग़ायब हो जाते हैं। वस्तुत: कोई भी इतिहास-लेखन इतना पूर्ण एवं समावेशी नहीं हो सकता है जो एक ही साथ महर्षि व्यास, पाणिनी, पोलिबियस, विको, मार्क्स एवं रणजीत गुहा द्वारा प्रदत्त साँचे में इतिहास को देख सके। यह सही है कि इतिहास को इतिहासकार के नज़रिये से नहीं देखना चाहिए, बल्कि इतिहास को उन पात्रों के निगाह से देखना चाहिए जो कि इसके पात्र हैं। किंतु, क्या इस लक्ष्य का संधान इतिहास को लिंग, जाति, वंश, गोत्र, क्षेत्र, भाषा जैसे पृथक्-पृथक् संघटकों से विश्लेषित करके किया जा सकता? वास्तव में ऐसे प्रयास तो कसाई की तरह मृत पशु को टुकड़े-टुकड़े में बाँटने की तरह इतिहास पर विमर्श करना है। परंतु, विगत् वर्षों में प्राचीन भारतीय इतिहास पर इसी तरह के विमर्शों की एक सतत शृंखला विकसित हुई है। इसके केंद्र में पहले स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण और बाद में असुर आ गये हैं। ऐसे विमर्शों की प्रामाणिकता एवं इसके अंतर्विरोधों की पड़ताल के लिए इनमें से एक का समीक्षात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है। सम्प्रति यह इतिहास विमर्श 'महिषासुर विमर्श' के नाम से प्रचारित किया जा रहा है। इस विमर्श पर केंद्रित संजय जोठे का आलेख प्रकाशित करते हुए सम्पादक ने उचित ही टिप्पणी की है कि 'हमारे सार्वजनिक जीवन की सांस्कृतिक राजनीति में खलबली मचाने वाले महिषासुर-विमर्श के कारण हिंदू-धर्म की

मिथकीय संरचना और उस पर आधारित समाजशास्त्र के लिए ये बेचैनी के दिन हैं। एक नये इतिहास की खोज की जा रही है और मिथकीय पुन:पाठ के प्रयास जारी हैं। ठीक उसी तरह जैसे कभी फुले, पेरियार और आम्बेडकर ने किया था। यह विमर्श विचारोत्तेजक भी है और चुनौतीपूर्ण भी। लेकिन, यह कितना प्रामाणिक है? क्या इसमें समाज की संरचनाओं को प्रभावित करने की ताक़त है? क्या मिथकों के मुक़ाबले मिथक प्रस्तावित करके आज के जमाने में समाज और संस्कृति की नयी इबारत लिखी जा सकती है?' प्रस्तुत आलेख के माध्यम से हम लोगों ने इतिहास बोध के मिथकीय आख्यान द्वारा एक नयी इबारत गढ़ने के अंतर्निहित भ्रांतियों की जाँच-पड़ताल करने का प्रयास किया है।

महिषासुर विमर्श : वैचारिक संरचना की उलझन

इस विमर्श के आठ आधारभूत तत्त्व हैं। प्रथम, असुर जाति भारतभूमि की एक प्राचीनतम जाति है। द्वितीय, सिंधु सभ्यता का निर्माण करने वाले असुर जाति के ही लोग थे (कंगाली : 2011)। तृतीय, असुरों से गोण्ड एवं अहीर (अब यादव) का सीधा संबंध बनता है (प्रमोद रंजन : 2014)। चतुर्थ, सम्भुसेक असुरों का प्रसिद्ध नायक (या परम्परा) है और हिंदुओं (आर्यों) ने (विशेषकर ब्राह्मणों ने) इसे शिव या शंकर के रूप में चालाकी से अपना लिया है। पंचम, आर्यों ने सम्भुसेक को पथभ्रष्ट करने के लिए पार्वती का प्रयोग किया जिसमें पार्वती ही सम्भुसेक से आसक्त हो गयी। षष्ठम्, दुर्गा ने छलपूर्वक महिषासुर का वध किया और आज भी दुर्गा के प्रति आक्रोश रखने वाले महिषासुर के वंशजों में इस गाथा की जनश्रुति शेष है। सप्तम्, गोण्डी पुनेम दर्शन असुरमत है और यह बुद्धमत से भी प्राचीन है तथा बुद्धमत से साम्य रखता है। असुरों की गोण्डी पुनेम मान्यता को विरूप करने के लिए आर्यों ने बृहस्पति का प्रयोग करके उनमें लोकायत मत का प्रचलन कर दिया। अष्टम्, असुर या गोण्डी पुनेम मत से हिंदूमत की मीमांसा अपेक्षित है ताकि असुरों (समग्ररूप से बहिष्कृत समूहों) को उचित सम्मान दिलाया जा सके और उनके गौरवशाली इतिहास को पुन: प्रतिष्ठित किया जा सके।

महिषासुर विमर्श के उक्त आख्यान की समीक्षा के लिए इस आख्यान की विश्व-दृष्टि एवं इतिहास-दृष्टि का विश्लेषण आवश्यक है। प्रामाणिक इतिहास-लेखन के लिए इतिहास-दृष्टि से विश्व-दृष्टि का निर्माण प्राथमिक अपेक्षा होती है। जब भी किसी विश्व-दृष्टि से इतिहास-दृष्टि का निर्माण किया जाता है तब इतिहास वास्तव में इतिहास न रह कर मिथकीय कहानी हो कर रह जाता है। यह दोष सनातन परम्परा के इतिहास-लेखन में भी है और आज के महिषासुर विमर्श में भी है। इस तथ्य को उत्तर-आधुनिक दर्शन के जनक नीत्शे द्वारा किये गये 'डायोनीसियन एथिक्स' और 'अपोलियाई एथिक्स' के भेद से भी समझा जा सकता है। इसमें पहले को दैवी सम्पदा और दूसरे को आसुरी सम्पदा से निर्मित एथिक्स कहा जा सकता है। इसी के गर्भ में पल कर मार्क्स एवं ग्राम्शी के सहारे महिषासुर विमर्श उत्पन्न हुआ है। यदि गोण्डी पुनेम दर्शन भारतभूमि का आद्य दर्शन एवं संस्कृति है तब यह नीत्शे की शब्दावली में 'डायोनीसियन एथिक्स' है और इसकी प्रतिक्रिया में जिस आर्य (हिंदू) संस्कृति का उदय हुआ (हिंदू शब्द की जगह लेखकद्वय 'सनातन' शब्द को तार्किक मानता है) वह 'अपोलियाई एथिक्स' का प्रतिनिधि है। कालांतर में इसी 'अपोलियाई एथिक्स' ने डायोनिसियन एथिक्स को विस्थापित कर दिया।

अब प्रश्न यह है कि महिषासुर विमर्श अपने डायोनीसियन एथिक्स को प्राप्त करना चाहता है या उस अपोलियाई एथिक्स की प्रतिक्रिया में अपने को गढ़ना चाहता है जो कि स्वयं में विद्रूप है। महिषासुर विमर्श में आस्था के प्रश्न को और राजनीतिक आर्थिकी को एक ही में उलझा दिया गया है। इस उलझाव को तार्किक दिखाने के लिए (छिपा लेने के लिए) वे बौद्धमत के प्रति झुकाव प्रदर्शित करते हैं। भारतवर्ष में मार्क्सवादियों का एक समूह हमेशा से भारतभूमि की नैतिकता के अनुकूल मार्क्सवादी नैतिकता हेतु विवेकसम्मत ढाल खोजने के लिए बौद्धमत की शरण लेता रहा है। इस प्रयास में मार्क्सवाद

शाश्वत सत्य तथा अविच्छिन्न ऐतिहासिक विकास को ख़ारिज करते हुए 'तरल सत्य' को अपनाने की सलाह देते हैं— उसमें तीन महत्त्वपूर्ण दोष दिखाए जा सकते हैं। प्रथम, यह मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान को एक ही धरातल पर खड़ा कर देता है। द्वितीय, यह सत्य एवं मत को एक ही पृष्ठभूमि में धकेल देता है। तृतीय, इस दृष्टि से इतिहास का होना या न होना निरर्थक हो जाता है और जो शेष रह जाता है वह है वर्तमान की शक्ति-संदर्भ आधारित गतिकी।

एवं बौद्धमत के साथ सादृश्यता दिखाने के भी दृष्टांत प्रस्तुत किये गये हैं। किंतु, ऐसे समूहों ने सदैव जिस मूल तथ्य की उपेक्षा की है या जिस प्रश्न का उत्तर देने से वे बचने की कोशिश करते रहे हैं उस प्रश्न का उत्तर बौद्धमत को मार्क्स की अपेक्षा वेदांत के समीप खड़ा कर देता है। वह तथ्य यह है कि व्यवस्था की स्थापना (समानता) के लिए चेतना का परिमार्जन आवश्यक है। चेतना के परिमार्जन से ही शोषणमुक्त एवं समानतायुक्त समाज की स्थापना हो सकती है। वर्तमान महिषासुर विमर्श में भी इस तथ्य की अनदेखी की गयी है और वे अस्तित्वमूलक प्रश्नों का पश्चिमी परिपाटी की ही तरह अनुभवमूलक समाधान का प्रयास करते हैं। इस विमर्श को यदि कालजयी बनना है तब इसे भी अस्तित्वमूलक प्रश्नों का अस्तित्वमूलक समाधान एवं अनुभवमूलक प्रश्नों का अनुभवमूलक समाधान प्रस्तुत करना होगा। जहाँ तक इस विमर्श में रखे गये आस्था के पक्ष का प्रश्न है— जिसका अपहरण आर्यों ने कर लिया है और अपना एक विमर्श खड़ा कर लिया है— उस विमर्श को ध्वस्त करने के लिए महिषासुर के पैरोकारों को प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, *ब्रह्मसूत्र* और *गीता*) पर भाष्य लिखने एवं उस भाष्य द्वारा अपने मत को गौरवान्वित करने की आवश्यकता है। अन्यथा वे आज की विश्व-दृष्टि और आज की राजनीतिक आर्थिकी से पुरातन संस्कृतियों के अतीत को विश्लेषित करने के आक्षेप से कभी मुक्त नहीं हो पाएँगे।

किंतु, यह कार्य सरल नहीं है। यह इस कारण जटिल नहीं है कि गोण्डी पुनेम दर्शन में या इसके पैरोकारों में क्षमता नहीं है। बल्कि, यह इस कारण जटिल है कि असुर यदि गोण्ड एवं अहीर बन गये हैं तब गोण्ड ब्राह्मण भी बन गये हैं और श्रीलंका में विश्वश्रवा के पुत्र रावण असुरों के अधिपति भी हैं जो कि ब्राह्मण हैं। वे शंकर के भी भक्त हैं और उनका पुत्र, पार्वती या दुर्गा के ही नामरूप देवी निकुम्भला का उपासक है। इसी तरह असुर पक्ष के पैरोकारों के लिए उन कारणों का भी तार्किक उत्तर देना आवश्यक है कि क्यों असुरों ने अपने समजातियों से भी लौह अभियांत्रिकी को छिपाए रखा। (प्रसन्न कुमार चौधरी : 2015) जबकि, अपेक्षित तो यह था कि वे यदि आर्यों के विरुद्ध संघर्षरत थे तो उन्हें अपने समजातियों को भी अभियांत्रिकी में दक्ष करके अपने साथ खड़ा करना चाहिए था।

जाति-जनजाति सातत्य की उपेक्षा और आर्य-अनार्य मिथक की भ्रांति पर विश्वास

महिषासुर विमर्श की तह में जाने और अतीत को विस्तृत फ़लक पर देखने से इस विमर्श की कपोलकल्पित तार्किकता के अंश सतह पर आ जाते हैं। भारत की आदिम कही जाने वाली जनजातियों में और आधुनिक समझी जाने वाली जातियों में ऐसा सातत्य रहा है जिसने समाज, जीवन एवं संस्कृति के क्षेत्र में दोनों को मात्र एक सूत्र में पिरोये ही नहीं रखा है बल्कि आदिम जातियों से ही आधुनिक जातियों के उद्‌भव का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सातत्य को रेखांकित करने वाले अनेक अध्ययन हुए हैं। यह एल.पी. विद्यार्थी, एस.सी. दुबे, जी.एस. घुर्ये आदि के अध्ययनों में स्पष्ट हो चुका है। एम.एन. श्रीनिवास के संस्कृतीकरण की अवधारणा से भी उसी वास्तव का निष्पादन होता है। वस्तुतः आदिम

जातियों एवं सभ्य जातियों के द्विभाजन (बायनेरी) का सूत्र ब्रिटिश शासन की देन है। (एस.बी.सी. देवले, 1992 : 50) जिसका उद्देश्य वन्य जातियों को बृहत्तर भारतीय समाज से समेकित होने से रोकना था ताकि, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को कमज़ोर किया जा सके। यही कारण है कि प्रथम जनगणना के समय मुण्डा, संथाल, बैगा आदि, जिन्हें आज अनुसूचित जनजाति कहा जाता है, जब इनके समूहों ने अपने को हिंदू परिगणित किये जाने हेतु आवेदन किया, तो इनके दावों को ख़ारिज कर दिया गया। यह उस कड़ी को तोड़ने का मात्र एक प्रशासनिक प्रयास ही नहीं था जो सभ्य जातियों एवं वन्य जातियों को एक कड़ी के रूप में जोड़ती थी। बल्कि, इसके साथ-साथ ऐसे प्रयास भी हुए जिससे सभ्य जातियों एवं वन्य जातियों के मध्य विद्वेष उत्पन्न हुआ। इस विद्वेष को उत्पन्न करने में ईसाई मिशनरियों के योगदान को भी अनेक अध्ययनों में उजागर किया गया है।

इन षड्यंत्रकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जनजातियों का एक वर्ग तैयार हो गया जिसने विषमजातीय होते हुए भी एक लाभार्थी समूह के रूप में समजातीय कलेवर ग्रहण कर लिया। स्वतंत्रता के बाद नेहरू-एल्विन मॉडल के रूप में उसी षड्यंत्रकारी ब्रिटिश नीति का जाति-जनजाति समायोजन के लिए रूपांतरण हो गया। फलत: प्रथम जनगणना के सौ वर्षों की अवधि के बाद आज हम उस स्थिति की परिकल्पना नहीं कर पाते हैं जो आदिम एवं ग्रामीण जातियों के बीच में रहती है। वन्य जातियाँ यदि वन्य जातियाँ ही रह गयीं तब इसका कारण प्रत्येक परिस्थितियों में तथाकथित हिंदू समाज का शोषणकारी बर्ताव ही नहीं रहा है। बल्कि, आधुनिकता की कीमियागीरी उससे अधिक प्रभावशाली रही है। वन्य जातियों के आर्थिक हितों पर जो आघात हुआ है उसके लिए स्थानीय ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा आधुनिकता एवं बाज़ारीकरण अधिक उत्तरदायी रहे हैं। बाज़ार और आधुनिकता के गर्भ से ही उस बीज का उदय होता है जहाँ वे असुर के असुर ही रह जाते हैं। साथ ही आधुनिकता और बाज़ार ही वह स्पेस उपलब्ध कराता है जहाँ असुर एवं महिषासुर की कहानी ख़रीदी और बेची जाती है। जिस तरह बाज़ार लाभ के तर्क पर संचालित होता है उसी तरह इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने के प्रयत्नों की भी एक तर्क-प्रणाली है।

अतीत में और आज भी इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का दोषारोपण दक्षिणपंथी शक्तियों पर किया जाता था। किंतु, साम्यवाद के अवसान और उत्तर-आधुनिक चिंतन के आविर्भाव ने प्रगतिशील कहे जाने वाले तबक़ों को भी इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने के उपक्रम से जोड़ दिया है। परंतु, इनमें से कोई भी तबक़ा इतिहास के परतों को मन-माने तरीक़े से वहीं तक उधेड़ने का हिमायती होता है जहाँ तक उनके लाभार्थी समूहों का हित जुड़ा होता है। यद्यपि, इस प्रवृत्ति से प्रेरित इतिहास-लेखन में भी वही दोष होते हैं जो महाविचारों से प्रेरित इतिहास-लेखन से आ जाते हैं। यदि अतीत की तह तक ही जाना है फिर तो पूरी दुनिया ही विस्थापित, आक्रांत और जड़विहीन है। क्योंकि, ज्ञात सत्यापनीय मान्यताओं के अनुसार तो हम मानवजाति के पूर्वज जिस कपि-मानव की संतान हैं वह अफ़्रीकावासी थे। तो क्या इस तर्क के आधार पर हम सभी को अपने मूल देश और मूल स्वरूप में लौट जाना चाहिए? ज़ाहिर है कि यह अतीत में झाँकने की प्रवृत्ति का अत्यंत विस्तारवादी और आत्मविनाशमूलक तर्क है और कोई भी विचारशील अध्येता ऐसा नहीं करना चाहेगा। यदि ऐसा है, तब यही तर्क महिषासुर विमर्श के उपर भी लागू होना चाहिए। इस विमर्श ने जिस दुर्गा और पार्वती को असुरों के अधिपति को व्यामोहित कर शिव के रूप में उपस्थापित कर देने का आक्षेप लगाया है, यह वही दुर्गा हैं जो कोल राजाओं को विध्वंस कर देने वाले (आज के संदर्भ में देखा जाए तो वे जनजातीय राजा ही थे) आततातियों से कोलों को सुरक्षित किया था (कोला विध्वंशिनस्तदा, *दुर्गा सप्तशती,* प्रथम अध्याय)। स्वयं महिषासुर के समर्थक विमर्शकारों ने वन देवी एवं ग्राम देवी के रूप में भी दुर्गा को दर्शाया है। ऐसा करके वे दुर्गा को वन्यजातियों की देवी के रूप में मान्यता दे ही देते हैं। क्योंकि, तत्कालीन अवस्था में अधिकांश गाँव या तो जनजातीय गाँव थे या हिंदू समाज के ऐसे गाँव थे जिनमें जीववाद,

सरनावाद के बीज थे और आज भी हैं। वास्तविकता भी इसी के इर्द-गिर्द प्रतिस्थापित होती है। दुर्गा ही क्या समस्त सनातन देवी-देवता वन्य जातियों के जीवनस्तर से ही उद्भूत हुए हैं। वे कोई शहरी समाज में बस चुके सिद्धांतकारों द्वारा विरचित नहीं किये गये हैं। जब वे रचे गये तब उनके रचनाकार वन्य जीवन से ऊपर के स्तर पर नहीं आये थे। जब देवी-देवताओं की रचना हो रही थी उसी समय ऐसे रचनाकारों से पत्थर फेंक दूरी पर रहने वाले समूह इसके उलट प्रतिरूपों की भी रचना नहीं कर रहे होंगे, ऐसा तो सम्भव नहीं है।

वास्तव में मानवशास्त्रीय कल्पनाओं के अनुसार देवासुर संग्राम की कहानी की पृष्ठभूमि यहीं से शुरू होती है। अर्थात् यह विभिन्न वन्य जातियों के अंतर्कलह और आस्था आधारित विभाजन का प्रतिफलन है। इस अंतर्कलह और आस्था आधारित विभाजन का न तो सदैव एकरेखीय प्रतिफलन सम्भव था न ही विशाल सनातन साहित्य में इसका एकरेखीय संकलन हुआ है। कहीं शहद पीने वाली दुर्गा, कहीं साग खाने वाली दुर्गा, कहीं ईंख खाने वाली दुर्गा, कहीं महनभोग (झारखण्ड की वन दुर्गाओं को चढ़ा या जाने वाला हलवा) खाने वाली दुर्गा, कहीं मांस खाने वाली दुर्गा, कहीं बेल और उसके पत्तों को खाने वाली दुर्गा तो कहीं उड़हूल के फूल से श्रृंगार करने वाली दुर्गा में आख़िर ऐसा क्या है जो उन्हें वन्येतर साबित करता हो।

वस्तुत: यह तार्किक नहीं है कि पार्वती या दुर्गा कोई वन्येतर रचना हैं जो किसी अधिक विकसित आर्य जाति द्वारा वन्यजातियों के शासन, प्रतिष्ठा और यहाँ तक कि सभ्यता को हड़प लेने की परिकल्पना के साथ अवतरित या रूपांतरित होती है। यदि कोई आर्य जैसी जाति रही भी है और उनका स्थानीय निवासियों से संघर्ष हुआ है, तब तत्कालीन समय में आर्य भी वन्य जाति के ही थे। यद्यपि आर्य आक्रमण के मिथक से पार्वती या दुर्गा को जोड़ने के लिए यह भी साबित करना आवश्यक है कि इस देवी का अस्तित्व भारत आने से पूर्व भी तथाकथित आर्य जातियों में रहा है, जो कि अब तक के अध्ययनों में साबित नहीं हो सका है। यदि सिंधु सभ्यता के निर्माता महिषासुर के वंशज ही थे और उनका अधिपति सम्भुसेक ही महिषासुर हैं जो कि परमयोगी भी हैं तब क्या मात्र अधिपति के योगभ्रष्ट (विमोहित) हो जाने से सम्पूर्ण सभ्यता का विनाश या रूपांतर सम्भव है। यदि ऐसा हुआ भी तो सदैव योगभ्रष्ट हो जाने वाले महिषासुर (महादेव) के विग्रह शहरी केंद्रों में और पार्वती/दुर्गा के विग्रह पर्वतों/पहाड़ों एवं कंदराओं में क्यों हैं? और क्यों योगभ्रष्ट होकर सम्भुसेक (महिषासुर) अपने अनुचरों (अर्थात् असुरों के एक समूह के साथ) के साथ आर्य कुटुम्ब में सम्मिलित होकर महादेव बन जाते हैं। इन कथानकों के आधार पर तो एक नया ही विमर्श बन सकता है और वह यह कि महिषासुर की असुर जाति अपने अंतर्कलह एवं अभिजन संघर्ष के क्रम में मातृसत्ता को छोड़कर (सिंधु सभ्यता में मातृदेवी की पूजा के अवशेष हैं) योगभ्रष्ट होते हुए विलुप्त हो जाते हैं।

सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी की उपेक्षा

एक दृष्टि से महिषासुर और महादेव शिव को एक ही बताना ग़लत नहीं भी है। परंतु वह दृष्टि अद्वैत-बोध की दृष्टि है। जिसका एक कथानक *महाभारत* में युद्ध के पश्चात् बर्बरीक के आख्यान में मिलता है। जहाँ वह कहता है कि अठारह दिनों के युद्ध में उसने मात्र कृष्ण को लड़ते और मरते देखा। मारने वाला और मरने वाला दोनों ही कृष्ण थे। 'सर्वम् ब्रह्ममयं जगत्' या 'सर्वम् देवीमयं जगत्' का यही जागतिक रूपांतरण है। इस दृष्टि से सत्-असत्, पाप-पुण्य, जड़-चेतन सभी ब्रह्मस्वरूप ही हैं। किंतु महिषासुर विमर्श में यह एकत्व/अद्वैत बोध शिव एवं महिषासुर को एक ही बताने में नहीं है। बल्कि, यह विमर्श जब महिषासुर को ही महादेव शिव बताता है तब पराभूत निष्ठा के पीछे दुर्गा के षड्यंत्र को खोजता है। यह सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी ही है कि इसने देवों एवं असुरों को एक ही पिता की संतान बताया है। दोनों आपस में सौतेले भाई हैं। किंतु दोनों की विश्व-दृष्टि अलग है और

दोनों अलग-अलग ही नहीं बल्कि एक दूसरे के विरोधी सभ्यता के निर्माता हैं।

ऐसा नहीं है कि बृहस्पति प्रणीत लोकायत मत से योगनिष्ठ असुर योगभ्रष्ट हो जाते हैं। यह योगभ्रष्टता तो देवों में भी आती है, पर वे सचेत एवं सचेष्ट होकर उसका परिमार्जन करते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वे योगभ्रष्टता को ही सच्चा सुख मान कर असुर के असुर ही रह जाते हैं। आज तो सम्पूर्ण मानव जाति ही योगभ्रष्ट हो रही है। सही मायने में आज तथाकथित बृहस्पति प्रणीत लोकायत धर्म ही मानवता का असली मर्म बन गया है। क्या रक्षा के लिए विनाश पर ख़र्च करना, क्या भावी संततियों के प्राकृतिक सम्पदा का भी उपभोग कर लेना देवोचित प्रवृत्ति है या यह आसुरी प्रवृत्ति है? यदि यह आसुरी प्रवृत्ति है तब यह मानवता को ही निश्चित करना है कि उसे योगभ्रष्ट हो सकने वाले महिषासुर की शरण में जाना है या मातृ-सत्ता उन्मूलक महिषासुर की शरण में जाना है।

वस्तुत: असुर जन-जाति के तथाकथित मिथकों एवं गोण्डी पुनेम दर्शन के साथ आर्य-अनार्य विवाद के उपक्रम को मिला देने से सनसनी फैल सकती है। लेखकों एवं पाठकों का एक बाज़ार तैयार हो सकता है। कुछ समय तक निहित स्वार्थ की राजनीति की रोटी सेकी जा सकती है। किंतु इससे न तो असुर जन-जाति का कल्याण सम्भव है, न ही मानवता का। हमें उन कारणों पर भी विचार करने की ज़रूरत है कि असुर के पड़ोसी ख़ैरवार झारखण्ड में स्टेट के स्वामी हो जाते हैं और स्थानीय शासन का संचालन करते हैं जिसमें हिंदू एवं ग़ैर-हिंदू दोनों शासित हैं। यदि असुर इतने ही समृद्ध, सम्पन्न एवं विकसित थे तो वे खैरवार जनजाति द्वारा राज्य-स्थापना के उपक्रम में भागीदार होने के बजाय बहिष्कृत क्यों रह गये? और क्या इतिहास के ऐसी हज़ारों घटनाओं में हिंदू समाज का ही षड्यंत्र रहा है? वास्तव में जहाँ अकादमिक ईमानदारी से अधिकांश घटनाओं एवं प्रारूपों को वर्णित किया गया है वहाँ षड्यंत्र की दुर्गंध जिन विमर्शकारों को आती है वे उस षड्यंत्र को नहीं समझ पाते जिसमें उलझ कर वे विमर्श की यंत्रवत रचना कर रहे होते हैं। इस तथ्य को (सनातन परम्परा की अकादमिक ईमानदारी) एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। *मनुस्मृति* के प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कहा गया है कि इस ग्रंथ में कुलधर्म, जातिधर्म, आपद्धर्म, शाश्वतधर्म और यहाँ तक कि पाखण्डियों के धर्म का भी उल्लेख किया गया है। इस स्पष्टीकरण के बावजूद आज के प्रगतिशील विमर्शकारों का शायद ही कोई तबक़ा *मनुस्मृति* को जब घातक ग्रंथ बता रहा होता है तब यह भी बता पाने की चेष्टा करता हो कि वह शाश्वतधर्म तत्त्व का संदर्भ ले रहा है या पाखण्डियों के धर्मतत्त्व का संदर्भ ले रहा है। यही हाल महिषासुर विमर्श के पैरोकारों का भी है। उनकी दृष्टि वहाँ नहीं जाती जहाँ संस्कृति है। वे वहाँ पहुँचते हैं जहाँ विकृति है; और यह बताने की चेष्टा नहीं करते कि कब कहाँ और कैसे सनातन परम्परा ने विकृति को संस्कृति के रूप में मान्यता दी या विकृति के परिमार्जन की व्यवस्था की।

वस्तुत: महिषासुर विमर्श अपने आप में एक षड्यंत्र की उपज है। इस षड्यंत्र की एक सोची-समझी राजनीति है। इसमें फिलहाल असुर मोहरा बनाए गये हैं। *देवी भागवत, मार्कण्डेय पुराण* या *दुर्गा सप्तशती* में असुर (जनजाति) राक्षस नहीं हैं। राक्षस वह प्राणी या समुदाय है जिसमें राक्षसी प्रवृत्ति है। परंतु महिषासुर विमर्श के पैरोकार असुरों से आगे बढ़ते हुए सभी दलित समुदाय को राक्षस (असुर) घोषित करने के हिमायती हैं ताकि भारत का एक ऐसा विभाजन तैयार किया जा सके जो दलित एवं ग़ैर-दलित के आधार पर हो। आज के समय में भी राक्षस हैं और उनका किसी वर्ग या जाति विषेष से संबंध नहीं है, अपितु वे किसी भी वर्ग या जाति के हो सकते हैं। क्या आतंकवादी इस श्रेणी में परिगणित किये जा सकने वाले राक्षस नहीं है? क्या मादक द्रव्यों के तस्कर एवं महिलाओं तथा बच्चों का व्यापार करने वाले राक्षस नहीं हैं? यदि हैं, तब क्या दैवी प्रवृत्तियों को इनसे निरंतर युद्ध में संलग्न होना अनुचित है? अत: आज पददलित कही जाने वाली विश्वभर के समुदायों को यह सुनिश्चित करना है कि वे राक्षसी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में देवी दुर्गा (सद्प्रवृत्ति) के साथ हैं, या महिषासुर विमर्श के नायकों द्वारा प्रकल्पित महिषासुर (असद्-प्रवृत्ति) के साथ हैं।

चुनौती एवं अपेक्षा

महिषासुर विमर्श को खड़ा होने के लिए वैसे तो अनेक चुनौतियाँ हैं और उन चुनौतियों के प्रत्युत्तर की अपेक्षा इस विमर्श के पैरोकारों से की जाती है। फिर भी इन चुनौतियों में चार प्रमुख हैं। प्रथम, सनातन परम्परा में *दुर्गा सहस्रनाम* एवं *शिव सहस्रनाम* उपलब्ध हैं। यह मात्र सहस्रनामावली का संग्रह नहीं है, बल्कि प्रत्येक नाम के पीछे कोई इतिहास, घटना एवं आख्यान है। यदि दोनों सहस्रनाम के आख्यानों के तुलनात्मक विमर्श के द्वारा दुर्गा/पार्वती द्वारा महिषासुर को मोहासक्त करके शिव बनाने की स्थापना सिद्ध हो सकती है तब निश्चित ही सम्भुसेक (महिषासुर) को शिव घोषित किया जा सकता है। अन्यथा, सम्भुसेक के भक्तों को अपनी पराजित निष्ठा का परिमार्जन करना उपयुक्त होगा। द्वितीय, यदि दुर्गा या पार्वती द्वारा ही सिंधु सभ्यता के उन्नायक महिषासुर का रूपांतरण कर दिया गया तब दुर्गा या पार्वती आरम्भिक ऋग्वैदिक रचना में क्यों उल्लिखित नहीं हैं— जबकि आर्य रचना होने के कारण दुर्गा को आर्यों के भारत में आने के तत्काल बाद ही सक्रिय होना पड़ा होगा? तृतीय, भारत की दर्जनों जनजातियों में शिव एवं दुर्गा पूजनीय हैं जबकि उन्हें तो आर्य रचना होने के कारण ग़ैर-आर्य समूहों (तथाकथित) में किसी भी तरह समाविष्ट ही नहीं होना चाहिए था। और यह समाविष्ट भी इस तरह से हैं जहाँ जनजातियों के आदिम या सरना धर्म से उनका सायुज्य है। चतुर्थ, सिंधुवासी यदि असुर थे और उनका अधिपति महिषासुर था, तब भी यह तो सुनिश्चित है कि यह सभ्यता अनेक बार बसी एवं तबाह हुई। सम्भव है कि इनका आदि प्रवर्तक सम्भुसेक (सद्प्रवृत्ति से युद्ध) रहा हो। किंतु, कालांतर में इनका अधिपति महिषासुर (असद् प्रवृत्ति से युद्ध) बन गया हो और आंतरिक अभिजन संघर्ष तथा बाह्य आक्रमण के संयुक्त समीकरण से वह कालातीत बन गया हो। इस समीकरण में महिषासुर के अनुयायियों ने महिषासुर में सम्भुसेक को अधिष्ठित करने का उपक्रम चलाया हो और उस अरुचिकर उपक्रम का ही एक स्वरूप आज का महिषासुर विमर्श हो।
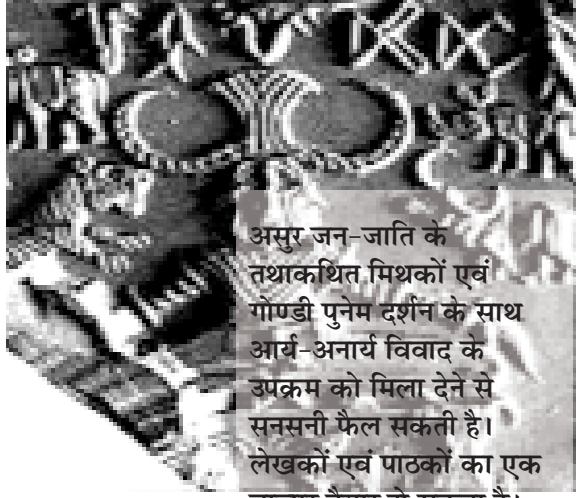
असुर जन-जाति के तथाकथित मिथकों एवं गोण्डी पुनेम दर्शन के साथ आर्य-अनार्य विवाद के उपक्रम को मिला देने से सनसनी फैल सकती है। लेखकों एवं पाठकों का एक बाज़ार तैयार हो सकता है। ... ... असुर के पड़ोसी ख़ैरवार झारखण्ड में स्टेट के स्वामी हो जाते हैं और स्थानीय शासन का संचालन करते हैं जिसमें हिंदू एवं ग़ैर-हिंदू दोनों शासित हैं। यदि असुर इतने ही समृद्ध, सम्पन्न एवं विकसित थे तो वे खैरवार जनजाति द्वारा राज्य-स्थापना के उपक्रम में भागीदार होने के बजाय बहिष्कृत क्यों रह गये? और क्या इतिहास की ऐसी हज़ारों घटनाओं में हिंदू समाज का ही षड्यंत्र रहा है?

समाहार : शिव एवं दुर्गा का वास्तविक स्वरूप

भौतिक सत्यापनीयता की दृष्टि से शिव, दुर्गा या महिषासुर का देवोपम होना या न होना प्रस्तुत लेख की सीमा से परे है। भौतिक सत्यापनीयता की दृष्टि से यह तीनों ही मानवीय प्रवृत्ति के द्योतक हैं। शिव जहाँ समानता, समरसता एवं विषमता में समता को अधिष्ठित करने की प्रवृति के द्योतक हैं, वहीं दुर्गा या पार्वती ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों की विशुद्ध शक्तिमत्ता की द्योतक हैं। शिव को समरसता हेतु विशुद्ध ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों की आवश्यकता है (विशुद्ध ज्ञान देहाय), वहीं दुर्गा को इस विशुद्धता हेतु

समत्व की आवश्यकता है। यह समीकरण सनातन परम्परा में अत्यंत विराट है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में अर्जुन जिस मानवीय विषाद को श्रीकृष्ण के समक्ष रखते हुए कहते हैं कि (प्रदुष्यंति कुलः स्त्रियाः वर्ण संकरस्य च जायते), वह भी यही समीकरण है। कुलः स्त्रियाः का तात्पर्य इस शरीर की ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों से है। यदि इस समीकरण की उपेक्षा कर दी जाय तब *श्रीमद्भगवद्गीता* में योगनिष्ठ हो जाने के सत्रह अध्यायों में वर्णित उपदेश का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कौरवी प्रवृत्ति प्रदुष्यंति कुलः स्त्रियाः के लिए ज़िम्मेदार हैं। *देवी भागवत* एवं *मार्कण्डेय पुराण* में महिषासुरी प्रवृत्ति प्रदुष्यंति कुलः स्त्रियाः के लिए ज़िम्मेदार हैं। इस शरीररूपी साम्राज्य पर विजय अर्जुन को कुल की स्त्रियों पर (ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों) विजय प्राप्त करके मिलती है। ऐसी ही विजय *मार्कण्डेय पुराण* में सुरथ को भी योगनिष्ठ हो कर ही प्राप्त होती है। 'महिषासुर निर्नाशी भक्तानाम् वरदे नमः' में भक्त सद्प्रवृत्तियों पर चलने वाले साधुजन हैं। अन्यथा, आर्य श्रेष्ठता के दावे के आधार पर 'अनार्यानाम् निर्नाशो आर्यानाम् वरदे नमः' या 'दस्युनाम निर्नाशी आर्यानाम् वरदे नमः' लिखा गया होता, क्योंकि *ऋग्वेद* में अनाशो एवं दस्यु तथाकथित रूप से असद् प्रवृत्ति के घोषित किये जाते रहे हैं। परंतु, शिव एवं पार्वती के शरण में अनार्य, दस्यु, देव, दानव, गंधर्व, यक्ष आदि सभी त्राण पाते हैं। अर्थात् शिव एवं पार्वती के सनातनी आख्यान में किसी भी जाति, वंश, क्षेत्र, रूप-रंग आदि के प्राणियों को त्राण प्राप्त होता है। इसे निस्त्राण करने की प्रवृत्तियों से मानवजाति को सजग रहना होगा।

इसके लिए मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान जैसी चालों से बचने की आवश्यकता है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों के इतिहास-लेखन से जितना इतिहास को उजागर किया जाता है उससे अधिक इतिहास को निर्मूल कर दिया जाता है। विशुद्ध अकादमिक दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य इतिहास-लेखन में इतिहासबोध से मिथकीय आख्यान निर्मूल हुए हैं और भारत में मिथकीय आख्यानों के आच्छादन से इतिहास विलुप्त न होने पर भी गुम हो गया है। अतः प्रश्न यह है कि इतिहासबोध यदि पश्चिम की तरह पुनर्जागरण के मूल्यों से आच्छादित हो और जहाँ अतीत से संबंध तोड़ लेने की प्रवृत्ति में ही मानवीय स्वतंत्रता का सार निहित हो, वहाँ अतीत तो अभिशाप ही होता है। इस अभिशाप को वर्तमान के नज़रिये से धो डालने से इतिहास वह रह नहीं जाता है जो वह था। इसी तरह मिथकीय आख्यानों से इतिहास को रचने से इतिहास की ऐतिहासिकता जिस मूल्यनिष्ठता में बदल जाती है वह मूल्य समावेशी न हुए तो वंचित समूहों का इतिहास उजागर ही नहीं हो पाता है। तथापि, भारत की बची हुई विविधता और यूरोप की ओढ़ी गयी एकरूपता में इतिहास कहाँ शेष बच गया है और इस बचे हुए इतिहास को कैसे विद्रूप हुए बिना व्याख्यायित किया जाय— अब भी एक यक्ष प्रश्न बना हुआ है।

महादेव एवं पार्वती के जिन छिटपुट एवं कपोलकल्पित कथानकों से महिषासुर की पराजय-गाथा लिखी गयी है, उसी में गहरे उतरने पर एक दूसरी गाथा भी लिखी जा सकती है। वह यह कि, पार्वती या दुर्गा ने सम्भुसेकों को महिषासुर बनने से रोका और उन्हें महादेव बनने का, सर्वग्राही एवं समग्र बनने का पथ प्रशस्त किया। समुद्र मंथन से निकले विष का शिव (यहाँ प्रसंगवश सम्भुसेक) द्वारा पान किया जाना तथाकथित आर्य साज़िश न होकर जनजातीय अंतर्कलह/पारिवारिक कलह का भी परिणाम हो सकता है। तब तारा के रूप में दुर्गा या पार्वती द्वारा निज स्तनपान द्वारा उनकी रक्षा की जाती है। सती के देह त्याग पश्चात् भी सम्भूसेक का आचरण अंधकार से आच्छादित है। यहाँ भी पार्वती के संयोग से वे शिवत्व प्राप्त करते हैं। इसी तरह पार्वती की भी अनेक अवसरों पर शिव द्वारा रक्षा की जाती है। अतः यदि यह कहा जाय कि सम्भूसेक ही शिव बन गये और इस सम्पूर्ण प्रकरण में पार्वती/दुर्गा ने उन्हें सहयोग दिया तब यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, बशर्ते यहाँ पार्वती को षड्यंत्रकारी न बताया जाए।

वस्तुतः अर्धनारीश्वर के रूप में शिव की परिकल्पना भी यही स्थापित करती है कि शिव/महादेव, चाहे उनका प्रारम्भिक स्वरूप जो भी रहा हो, धीरे-धीरे शिव बनते चले गये और उसमें निरंतर पार्वती का योगदान रहा। यह योगी के योगाधिपति बनने की घटना है। जहाँ शरीर एवं इंद्रियों में, बुद्धि एवं इंद्रियों में

तथा चित्त एवं इंद्रियों में खींच-तान समाप्त हो जाती है। यह वह अवस्था है जहाँ ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों के श्रेय एवं प्रेय का संघर्ष समाप्त हो जाता है। परंतु, यह अवस्था सम्भुसेक को शहरी सभ्यता के केंद्र हड़प्पा में नहीं प्राप्त हुई। उन्हें यह अवस्था शहरी सभ्यता के अभिजन संघर्ष से मुक्त होने पर प्राप्त हुई। आज की दृष्टि से कहें तो आधुनिकता के दुष्प्रभाव से मुक्त होने पर प्राप्त हुई। सम्भुसेक के मानसिक अंतर्द्वंद्व से उपजे ज्ञान ने उन्हें ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों को निर्मल करने का मार्ग प्रशस्त किया। यही निर्मलीकरण की प्रक्रिया पार्वती या दुर्गा हैं। इसी रूप में वे अयोनिज हैं। सम्भुसेक ही यदि शिव बन गये तब सम्भूसेक अयोनिज नहीं हैं पर शिव के रूप में रूपांतरित सम्भुसेक अयोनिज हैं। पार्वती या दुर्गा भी अयोनिज हैं। महामाया का घ्यान ब्रह्मा ने निद्रा-मग्न विष्णु को जगाने के लिए किया।

मधु-कैटभ रूपी दुष्प्रवृत्ति की ओर मानव का सहज ही झुकाव हो जाता है और इस दुष्प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह ज्ञान एवं विवेक शून्य होकर तंद्रामग्न हो जाता है। इस तंद्रा से जगने के लिए ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों के निर्मलीकरण की आवश्यकता होती है। इसके लिए ज्ञान के आह्वान की अपेक्षा होती है। इसी ज्ञान रूपी योगमाया की स्तुति ब्रह्मा द्वारा की गयी है। इस स्तुति में 'त्वं स्वाहा से महासुरौ' तक पंद्रह श्लोक हैं। इसमें कहीं भी दुर्गा को भीषणरूपा, रौद्र-रूपा, नहीं कहा गया है। उन्हें 'त्वमत्स्यंते च सर्वदा' तो कहा गया है और 'त्वयैतत्सृज्यते जगत्' भी कहा गया है। उनके शस्त्रों के वर्णन के क्रम में ही उन्हें 'सौम्या' भी कहा गया है। इन सबकी तार्किक व्याख्या दुर्गा को ज्ञान के अतिरिक्त कुछ साबित कर ही नहीं सकती है, क्योंकि ज्ञान ही सौम्य है। वही सृजन एवं संहार का आदि कारण है। अत: दुर्गा एवं पार्वती ज्ञान के रूप में अवतरित होती हैं। इस ज्ञान को ही ब्रह्मा ने मधु-कैटभ के संहार हेतु नहीं बुलाया अपितु इस ज्ञान को तंद्रामग्न विष्णु शरीर में संचारित करने का प्रयत्न किया। ज्ञान से आप्लावित शरीर ही दुर्बुद्धि का नाश कर सकता है। महिषासुर यही दुर्बुद्धि है। इस दुर्बुद्धि के भी अनेक स्वरूप होते हैं। अत: ज्ञान रूपी दुर्गा को भी अनेक स्वरूप ग्रहण करके उसका विनाश करना होता है। इस विनाश लीला में ज्ञान को जिस संबल की आवश्यकता होती है, इतिहासकार उसी सम्बल के इर्द-गिर्द इतिहास लिखता है। ज्ञान का उदय अनुपम है। इसे किसी जाति, वंश गोत्र, क्षेत्र आदि से जोड़ कर विद्रूप ही किया जा सकता है और ऐसा ही महिषासुर विमर्श के पैरोकारों द्वारा दुर्गा के साथ किया जा रहा है।

मिथकीय आख्यानों के इतिहासबोध और इतिहासबोध के मिथकीय आख्यान जैसी चालों से बचने की आवश्यकता है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों के इतिहास-लेखन से जितना इतिहास को उजागर किया जाता है उससे अधिक इतिहास को निर्मूल कर दिया जाता है। विशुद्ध अकादमिक दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य इतिहास-लेखन में इतिहासबोध से मिथकीय आख्यान निर्मूल हुए हैं और भारत में मिथकीय आख्यानों के आच्छादन से इतिहास विलुप्त न होने पर भी गुम हो गया है।

वस्तुत: आज की सभ्य जातियाँ विजनजातिकृत-जनजाति ही हैं। अत: भारत की जो पहचान जाति-जनजाति सातत्य से बनी है, उसे बने रहने देना चाहिए। उसे तोड़ देने पर यदि हमारा भविष्य

वर्तमान सोमालिया, सीरिया आदि से बेहतर हो सकता हो और हम आज के भारत से बेहतर भारत का निर्माण कर सकते हों, तभी उसे तोड़ना समीचीन होगा। इसके बावजूद भी यदि कुछ एक लोगों ने उसे तोड़ने की ठान ही ली है तो इतिहास के इतने बड़े फ़लक पर उलट-फेर करने के लिए बहुत ठोस एवं सबल प्रमाण चाहिए। लेकिन महिषासुर विमर्श के पैरोकारों ने विशाल और विविधतापूर्ण भारत की कतिपय आंचलिक किंवदंतियों और छोटे-छोटे जनजातीय समूहों की छोटी-छोटी प्रथाओं के आधार पर इस विमर्श का जैसा ताना-बाना बुना है वह सात अंधों द्वारा हाथी को पहचानने जैसी 'आर्कियोलॉजी ऑफ़ नॉलेज' बनाना है। इससे भी आगे जब वे महिषासुर-विमर्श के दर्शन को बहुत ही अल्प और अप्रामाणिक जानकारी के आधार पर बुद्ध और लोकायत दर्शन से उसे जोड़ते हैं तो स्वयं ही अपनी स्थापनाओं को और भी कमज़ोर कर देते हैं। इस विमर्श में गोण्डी पुनेम दर्शन से बुद्ध के दर्शन की जैसी समानता देखी गयी है वैसी समानता तो बुद्ध के दर्शन की अजीतकेश कम्बली, मक्खली गोशाल, संजय वेलट्ठी पुत्त इत्यादि से भी दिखाई जा सकती है, जिनका बुद्ध ने *ब्रह्मजालसुत्त* में खण्डन किया है। अब जहाँ तक लोकायत दर्शन का सवाल है तो भारतीय वाङ्मय में चार्वाक परम्परा का एक ही ग्रंथ सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है और वह है *तत्त्वोपप्लवसिंह*। इस ग्रंथ में ग्रंथकार जयराशि भट्ट ने वृहस्पति का भी खण्डन किया है और इस खण्डन का अभिप्राय वृहस्पति की विचारधारा को उसकी अंतिम तार्किक परिणति प्रदान करना है। अत: इस प्रकार के फंतासी विमर्श से बेहतर यही होगा कि हम भारत के आम नागरिकों के जीवन में 'चांस फ़ैक्टर' को कम करते हुए 'च्वाइस फ़ैक्टर' को इस तरह बढ़ावा दें कि हमें अतीत में लौटने की अपेक्षा भविष्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा और मार्ग मिले।

संदर्भ

अम्बिकादत्त शर्मा (2015), *भारतीयता के सामासिक अर्थ-संदर्भ,* भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

आर. जी. कॉलिंगवुड (1946), *द आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

एडवर्ड सईद (2001), *ऑरिएंटलिज़म,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

एस.बी.सी. देवले (1992), *डिस्कोर्स ऑफ़ एथ्निसिटी : कल्चर ऐंड प्रोटेस्ट इन झारखण्ड,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

काशीनाथ न्योपाने एवं अम्बिकादत्त शर्मा (2015), *तत्त्वोपप्लवसिंह,* डी. के. प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली.

जी.एस. घुर्ये (1995), *द सिड्यूल्ड ट्राइब्स,* पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई.

प्रमोद रंजन (2014), *महिषासुर,* दुसाध प्रकाशन, लखनऊ.

प्रसन्न कुमार चौधरी (2015), *अतिक्रमण की अंतर्यात्रा,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

भीम राव आम्बेडकर (2009), *बुद्धा और कार्ल मार्क्स,* सिद्धार्थ बुक्स, नयी दिल्ली.

मोतीरावण कंगाली (2011), *डोंगरगढ़ की बम्लाई दाई बंलेश्वरी,* चंद्रलेखा कंगाली, नागपुर.

........................(2011), *पारी कुमार लिंगो पुनेम दर्शन,* चंद्रलेखा कंगाली, नागपुर.

विल डूराँ (1953), *द प्लेजर ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी,* सिमोन ऐंड शुस्टर, न्युयार्क.

विश्वनाथ मिश्र (2014), 'जाति-जनजाति अंत:क्रिया : परम्परा एवं आधुनिकता बिरहोर जनजाति के संदर्भ में', *मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसंधान जर्नल,* अंक 1-2.

.... (2015), 'उत्तर-आधुनिकतावाद : अ-ऐतिहासिक एवं अ-सामाजिक विवेक की तार्किक परिणति', *उन्मीलन,* वर्ष 29, अंक 2.

विसेंट स्मिथ (1990), *द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

संजय जोठे (2016), *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* वर्ष 4, अंक 7, जनवरी-जून, 2016 : 107-130.